IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

गांधी की धर्मनिरपेक्षता और डॉ. आंबेडकर की न्याय दृष्टि: बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक प्रश्न पर दो नैतिक–राजनीतिक रूपरेखाओं का तुलनात्मक अध्ययन

अमोल सातपुते
शोधार्थी, (Ph.D.)
राजनीतिशास्त्र विभाग,
राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपूर विश्वविद्यालय,
नागपूर

डॉ. विकास जांभुळकर
सहयोगी प्राध्यापक एवं अनुसंधान मार्गदर्शक,
राजनीतिशास्त्र विभाग,
राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपूर विश्वविद्यालय,
नागपूर

सार:

भारतीय धर्मनिरपेक्षता की चर्चा प्रायः राज्य और धर्म के संबंध, संविधानिक प्रावधानों तथा बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक समीकरणों के इर्द–गिर्द घूमती है। परन्तु इस बहस के भीतर गांधी और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की वैचारिक टकराहट और संवाद को प्रायः सरसरी रूप से लिया जाता है। प्रस्तुत लेख में गांधी की धर्म आधारित नैतिक राजनीति और आंबेडकर की न्याय केंद्रित धर्मनिरपेक्षता को एक दूसरे के सामने रख कर बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक प्रश्न पर उनके दो भिन्न नैतिक व राजनीतिक रूपरेखा की आलोचनात्मक तुलना की गई है। आदित्य निगम के 'दलित क्रिटीक ऑफ मॉडर्निटी' के संदर्भ में यह दिखाया गया है कि दलित राजनीति आधुनिक सेक्युलर–नेशनलिस्ट विमर्श में निहित "अमूर्त नागरिक" और एकरूप राष्ट्र की धारणाओं को अस्वीकार करती है और स्वयं को एक तीसरे आलोचनात्मक पद (third term) के रूप में प्रस्तुत करती है, जो सेक्युलरिज़्म और राष्ट्र दोनों पर पुनर्विचार की मांग करता है।[१] गांधी के लिए धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म को सार्वजनिक जीवन से निकाल देना नहीं बल्कि सभी धर्मों के नैतिक बिंदु को स्वीकार कर आंतरधार्मिक सद्भाव तथा बहुसंख्यक समाज की आत्मानुशासित नैतिकता के आधार पर राजनीति को संचालित करना है। वे व्यक्तिगत स्तर पर धर्म को अत्यंत केन्द्रीय और राज्यस्तर पर उसे निजी मानते हैं। किंतु इस निजी धर्म का नैतिक बल ही उनके लिए राजनीति को दिशा देता है। इसके विपरीत आंबेडकर के लिए न्यायसंगत राज्य वह है, जिसका धर्म न्याय हो, जो बहुसंख्यक समुदाय की सद्भावना पर नहीं, बल्कि दमित समुदायों को स्वतंत्र प्रतिनिधित्व, समान नागरिकता और सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा देने वाली दृढ़ संवैधानिक संरचना पर आधारित हो। वे बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक संबंध को ऐतिहासिक दासता, जातीय घृणा के रूप में देखते हैं। इसीलिए वे अमूर्त नागरिक की धारणा को अपर्याप्त मानते हुए दलितों के लिए पृथक राजनैतिक प्रतिनिधित्व और आरक्षण की मांग करते हैं।

मुख्य शब्द: धर्मनिरपेक्षता, बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक, संवैधानिक न्याय, सर्वधर्मसमभाव.

प्रस्तावना:

आधुनिक भारत का धर्मनिरपेक्ष ढांचा संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्त्वों में तो दर्ज है। लेकिन व्यवहार में यह ढांचा लगातार बहस और विवाद का विषय बना हुआ है। एक ओर संविधान द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता, अल्पसंख्यक अधिकार और समान नागरिकता जैसे सिद्धांतों की गारंटी दी गई है तो दूसरी ओर पिछले दशकों में सांप्रदायिक हिंसा, बहुसंख्यकवादी राजनीति और छद्म धर्मनिरपेक्षता के आरोपों ने यह प्रश्न तीखा कर दिया है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता का वास्तविक अर्थ और भविष्य क्या है। इस व्यापक बहस के केंद्र में गांधी और आंबेडकर दो ऐसे व्यक्तित्व हैं, जिनकी वैचारिक दृष्टि न केवल भिन्न है, बल्कि परस्पर आलोचनात्मक संवाद के रूप में सामने आती है। गांधी धर्म को जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त नैतिक शक्ति मानते हुए राजनीति को 'धर्म का सांसारिक रूप' समझते हैं, परन्तु राज्य–संरचना के स्तर पर धर्म और सत्ता के औपचारिक विभाजन के पक्ष में रहते हैं। उनकी दृष्टि में राज्य किसी विशिष्ट धर्म का पक्ष नहीं ले सकता, किंतु नागरिकों की धार्मिकता से प्रेरित नैतिकता को नज़रअंदाज़ भी नहीं कर सकता। इसके विपरीत आंबेडकर धर्म और जाति के ऐतिहासिक गठजोड़ को दलितों की अमानवीय दशा का मूल कारण मानते हुए धर्मनिरपेक्षता को मूलतः न्याय और समानता के प्रश्न से जोड़ते हैं। वे चेतावनी देते हैं कि यदि धर्मनिरपेक्षता केवल बहुसंख्यक के उदार व सहिष्णु व्यवहार पर टिकी हो तो वह दमित समुदायों के लिए विश्वसनीय नहीं रह सकती। इसी पृष्ठभूमि में बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक प्रश्न का महत्व उभरता है। औपनिवेशिक दौर से ही यह प्रश्न केवल हिंदू–मुस्लिम मतभेदों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि जाति–व्यवस्था के भीतर दलितों की स्थिति, पृथक निर्वाचन, आरक्षण और प्रतिनिधित्व जैसे मुद्दों से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। आंबेडकर ने What Congress and Gandhi Have Done to the Untouchables में यह तर्क दिया कि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के सामान्य सिद्धांत हिंदू–अस्पृश्य संबंध को पकड़ नहीं पाते, क्योंकि यहाँ अभिसरण या मिलाफ की कोई संभावना नहीं है; ये समुदाय स्थायी रूप से विभाजित और परस्पर विरोधी हैं। इसलिए केवल संख्यात्मक लोकतंत्र दलितों की सुरक्षा नहीं कर सकता।[2] दूसरी ओर गांधी की चिंता यह थी कि पृथक प्रतिनिधित्व और पृथक निर्वाचनक्षेत्र राष्ट्रीय एकता को तोड़ देंगे। वे मानवीय रूपांतरण, प्रायश्चित्त और अहिंसक संघर्ष के माध्यम से बहुसंख्यक हिंदू समाज को बदलना चाहते थे, ताकि वह स्वयं स्वेच्छा से अपने विशेषाधिकार त्याग कर अल्पसंख्यकों के साथ न्याय करे।[3]

प्रस्तुत शोधलेख का उद्देश्य इसी गहन तनाव को समझना है। एक ओर गांधी की नैतिक–आध्यात्मिक धर्मनिरपेक्षता, जो बहुसंख्यक समाज की आत्मानुशासित जिम्मेदारी पर बल देती है और दूसरी ओर आंबेडकर की न्याय आधारित धर्मनिरपेक्षता जो संवैधानिक संरचनाओं, प्रतिनिधित्व और राज्य की हस्तक्षेपकारी भूमिका पर आधारित है। लेख यह प्रश्न उठाता है कि क्या इन दोनों दृष्टियों के बीच कोई रचनात्मक संवाद संभव है? जो समकालीन भारत में उभरती बहुसंख्यकवादी राजनीति और अल्पसंख्यकों पर बढ़ते दबावों के बीच एक वैकल्पिक नैतिक–राजनीतिक रूपरेखा प्रस्तुत कर सके। इस अध्ययन के उद्देश्य तीन स्तरों पर रखे जा सकते हैं। पहला, वैचारिक स्तर पर गांधी और आंबेडकर की धर्मनिरपेक्षता सम्बंधी अवधारणाओं का पुनर्निर्माण, ताकि धर्मनिरपेक्षता धर्म और राज्य विभाजन जैसी सरलीकृत परिभाषाएँ टूट सकें। दूसरा, बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक प्रश्न को केवल धार्मिक समुदायों के बीच संघर्ष नहीं बल्कि जाति आधारित सत्ता–असमानता के रूप में देखने की दृष्टि को स्पष्ट करना। तीसरा, भारतीय लोकतंत्र के भविष्य के लिए एक

ऐसे नैतिक–राजनीतिक धर्मनिरपेक्षता के खाका तैयार करना, जो गांधी की नैतिक करुणा और आंबेडकर के संरचनात्मक न्याय दोनों को समाहित कर सके।

गांधी की धर्मनिरपेक्षता और बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक प्रश्न

गांधी का धर्मसम्बंधी चिंतन उनके मानवी स्वभाव, सत्य और अहिंसा की अवधारणाओं से अविभाज्य है। भीखू पारेख के विश्लेषण में गांधी के लिए मानव–स्वभाव की तीन मूलभूत विशेषताएँ हैं: मनुष्य ब्रह्मांड का अविभाज्य अंग है, उसका अस्तित्व परस्परावलंबी है, और उसके शरीर, मन, आत्मा, स्वभाव के चार आयामों के बीच निरंतर अंतःक्रिया चलती रहती है, जिनसे नैतिकता का आधार बनता है।[4] इसी से 'धर्म' का अर्थ उनके लिए किसी संकीर्ण पंथ अनुशासन से अधिक 'कर्तव्य, अधिकार, प्रकृति के संतुलन' वाली जीवन नीति है। इस नैतिक धर्मदृष्टि से निकल कर वे यह निष्कर्ष गढ़ते हैं कि सभी धर्म मूलतः एक ही सत्य प्रेम, करुणा और न्याय की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं; इसलिए कोई भी धर्म अपने को पूर्ण सत्य का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं मान सकता।[5]

राजनीति के स्तर पर गांधी इसी नैतिक धर्म को आधार बनाते हैं। एक ओर वे 1915 में लिखते हैं कि उनका उद्देश्य राजनीतिक जीवन और संस्थाओं को आध्यात्मिक बनाना है, दूसरी ओर 1940 के दशक में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि धर्म एक निजी विषय है और आदर्श स्थिति में धर्म और राज्य अलग–अलग होने चाहिए; वे स्वयं यदि तानाशाह होते तो राज्य को किसी धर्म से जोड़ते नहीं।[6] पहली दृष्टि में यह विरोधाभास लगता है, परंतु वास्तव में यहाँ वे 'नैतिकता के रूप में धर्म' और 'संस्थागत धर्म' के बीच भेद कर रहे हैं। उनके लिए राजनीति धर्ममुक्त नहीं, बल्कि धर्मप्रेरित होनी चाहिए, बशर्ते वह धर्म किसी विशेष समुदाय के प्रभुत्व का औजार न बने, बल्कि सार्वत्रिक नैतिकता का स्रोत बना रहे।[7]

बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक प्रश्न पर गांधी की दृष्टि दो स्तरों पर दिखाई देती है। एक, हिंदू–मुस्लिम संबंध के संदर्भ में; और दो, दलित एवं अस्पृश्य प्रश्न के संदर्भ में। हिंदू–मुस्लिम प्रश्न पर गांधी का मानना था कि भारत जैसे देश में दोनों प्रमुख समुदायों के बिना राष्ट्रीय एकता संभव नहीं; इसलिए वे बार–बार दोनों को 'एक ही शरीर के दो अंग' की संज्ञा देते हैं और सांप्रदायिक सौहार्द को अपने जीवन–कार्य का केंद्र बना कर रखते हैं। गांधी की रणनीति यह थी कि धर्म को सार्वजनिक जीवन से बाहर करने के बजाय विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने–अपने विश्वास के भीतर से ही सहिष्णुता, न्याय और प्रेम जैसे मूल्यों को खोजें, ताकि राजनीतिक क्षेत्र में "बहुधार्मिक मानवतावाद" का चरित्र बन सके।[8] दलित प्रश्न पर गांधी की स्थिति अधिक जटिल है। वे अस्पृश्यता को 'राम–राज्य पर धब्बा' मानते हैं और हिंदू समाज के लिए इसे 'पाप' की संज्ञा देते हुए हरिजन सेवा, सामाजिक सुधार और प्रायश्चित्त पर जोर देते हैं। लेकिन डी.नागराज के अनुसार, गांधी की यह हरिजन–राजनीति दलितों को स्वतंत्र राजनीतिक विषय के रूप में नहीं, बल्कि हिंदू समाज के अंग के रूप में देखती है; यहां उद्धार का केन्द्र बहुसंख्यक हिंदू समाज का नैतिक परिवर्तन है न कि दलितों का स्वतंत्र राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त संघर्ष।[9] इसलिए पुणे पैक्ट जैसे प्रसंग में गांधी पृथक निर्वाचिका को हिंदू समाज के विखंडन के रूप में देखते हैं और आमरण अनशन जैसे नैतिक हथियार का इस्तेमाल कर राष्ट्रीय एकता को बचाने की कोशिश करते हैं।

गांधी के लिए धर्मनिरपेक्षता का अर्थ यह नहीं कि राज्य धर्म विरोधी हो, बल्कि यह कि राज्य किसी भी धर्म के प्रति पक्षपाती न हो, सभी को समान सम्मान देता रहे और सार्वजनिक नीति का मापदंड किसी खास धार्मिक मत के बजाय व्यापक मानवीय नैतिकता हो। राघवेन्द्र राव जैसे लेखकों ने गांधी के भीतर आधुनिक सेक्युलरिज़्म की आलोचना और एक वैकल्पिक "धार्मिक–मानवतावादी सेक्युलरिज़्म" की खोज दोनों को एक साथ उपस्थित बताया है – वे आधुनिकता के उस खंड को अस्वीकार करते हैं जो धर्म को पूरी तरह निजी बनाना चाहता है, लेकिन साथ ही वे यह भी मानते हैं कि राज्य के स्तर पर धार्मिक पहचान निर्णायक न हो।[10] इस अर्थ में गांधी की धर्मनिरपेक्षता बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक प्रश्न को 'नैतिक ज़िम्मेदारी' के रूप में देखती है, जिसमें बहुसंख्यक समुदाय को अपनी शक्ति का संयमित और करुणामय उपयोग करना चाहिए।

आंबेडकर की न्याय दृष्टि और बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक प्रश्न

आंबेडकर के लिए धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न मूलतः जाति, धर्म, अस्पृश्यता की संरचना से जुड़ा है। हिंदू धर्म के प्रमुख ग्रंथ मनुस्मृति, पुरुषसूक्त आदि चार वर्णों और असंख्य जातियों पर आधारित श्रेणीबद्ध विषमता को दिव्य और अनिवार्य व्यवस्था के रूप में स्थापित करते हैं। इस संरचना में समानता कोई लक्ष्य नहीं, बल्कि ऊपरी वर्गों की प्रभुता ही धर्म का केंद्र बन जाती है।[11] इसलिए उनके लिए धर्मनिरपेक्षता केवल धर्म और राज्य के विभाजन से नहीं, बल्कि उन धार्मिक–सांस्कृतिक संरचनाओं के विघटन से भी जुड़ी है जो मनुष्य की समानता और स्वतंत्रता का निषेध करती हैं।

बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक प्रश्न पर आंबेडकर की विश्लेषण दृष्टि What Congress and Gandhi Have Done to the Untouchables में विशेष रूप से स्पष्ट होती है। वे लिखते हैं कि आम तौर पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक संबंध ऐसे समुदायों के बीच होता है जिनके बीच मतभेद केवल नीतिगत विचार या मत–संप्रदाय तक सीमित हों। इतिहास में बहते–बहते जो समूह आज बहुसंख्यक है, वह कल अल्पसंख्यक बन सकता है और इसके विपरीत भी। परंतु हिंदू–अस्पृश्य संबंध ऐसा बिल्कुल नहीं है। यहाँ न तो अंतर्जात संबंध की कोई संभावना है, न ही पारस्परिक सहानुभूति की परंपरा। दोनों समुदाय स्थायी रूप से विभाजित हैं और उनके बीच घोर विरोध मौजूद है। इसलिए दलितों को केवल अल्पसंख्यक कह देना उनके अनुभव और संरचनात्मक दासता को छिपा देता है।[12] इसी तर्क के आधार पर वे पृथक निर्वाचिका, स्वतंत्र प्रतिनिधित्व और सार्वजनिक नौकरियों में आरक्षण की मांग करते हैं। उनके अनुसार, केवल योग्यता आधारित प्रतियोगी परीक्षाएँ उस समाज में न्यायपूर्ण नहीं हो सकतीं जहाँ शिक्षा–संसाधन आदि पर सदियों से उच्च जातियों का एकाधिकार रहा हो।[13]

आंबेडकर की दृष्टि में बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक समीकरण का मूल प्रश्न सत्ता का बंटवारा है। वे बार–बार चेतावनी देते हैं कि यदि लोकतंत्र केवल संख्यात्मक बहुमत पर चलता है और सामाजिक संरचना असमान बनी रहती है तो बहुसंख्यक समुदाय अपने हितों को राष्ट्रीय हित के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और अल्पसंख्यकों की मांगों को राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध बताकर दबा सकता है। पुणे पैक्ट पर उनका विश्लेषण यही दिखाता है कि दलितों को पृथक निर्वाचिका से मिलने वाली वास्तविक शक्ति को राष्ट्रीय एकता के नाम पर कुर्बान करवा लिया गया। इसके बाद से दलित प्रतिनिधित्व मुख्यतः ऊपरी जातीय नेतृत्व द्वारा नियंत्रित कांग्रेस व्यवस्था के भीतर समाहित हो गया।

संविधान–निर्माण की प्रक्रिया में आंबेडकर इन अनुभवों को शक्तिशाली और हस्तक्षेपावादी धर्मनिरपेक्ष राज्य की संकल्पना में रूपांतरित करते हैं। साउथबरो समिति में मतदान–अधिकार, महाड सत्याग्रह में धार्मिक–ग्रंथाधारित

अस्पृश्यता, गोलमेज परिषद और पुणे करार में बहुसंख्यकवाद, States and Minorities में समाजवादी–लोकतांत्रिक राज्य, तथा संविधान सभा में राज्य का धर्म ही न्याय है और संवैधानिक नैतिकता जैसे सिद्धांत ये सब मिलकर आंबेडकर की धर्मनिरपेक्षता को एक ऐसे न्याय आधारित ढाँचे में बदलते हैं जिसमें राज्य केवल तटस्थ नहीं, बल्कि उत्पीड़ित वर्गों के पक्ष में सक्रिय हस्तक्षेप करने वाला संरक्षक बन जाता है। आंबेडकर का अंतिम कदम नवयान बौद्ध धर्म की ओर जाता है। जहाँ वे ईश्वर–केंद्रित, कर्मकांडपूर्ण और श्रेणीबद्ध धर्मों के स्थान पर करुणा, विवेक, समानता और बंधुत्व पर आधारित धर्म–राजनीति का सपना देखते हैं। नवयान–बौद्ध धम्म उनके लिए इष्ट व्यक्तिगत मोक्ष नहीं, बल्कि मानवी प्रतिष्ठा पर आधारित नैतिक धर्मनिरपेक्षता का ऐतिहासिक खाका है, जो जाति–धर्म आधारित दासता से मुक्ति की सामूहिक परियोजना को आगे बढ़ाता है। इस प्रकार आंबेडकर की न्याय दृष्टि बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक प्रश्न को उत्पीड़ित बनाम उत्पीड़क की रेखा पर पुनर्परिभाषित करती है, जहाँ किसी भी धार्मिक–जातीय बहुसंख्यक की नैतिकता से अधिक महत्वपूर्ण है कि राज्य किस हद तक दमित समुदायों के अधिकारों की संरचनात्मक गारंटी देता है।

दो नैतिक–राजनीतिक रूपरेखा का तुलनात्मक अध्ययन

गांधी और आंबेडकर दोनों ही आधुनिकता और पश्चिमी शैली के सेक्युलरिज़्म के आलोचक हैं, लेकिन उनकी आलोचना की दिशा भिन्न है। गांधी आधुनिकता के उस हिस्से की आलोचना करते हैं जो धर्म, समुदाय और नैतिकता को निजी या अप्रासंगिक मानकर नैतिकतारहित राज्य बनाना चाहता है। वे मानते हैं कि ऐसा राज्य शक्ति, लोभ और भोगवाद को बढ़ावा देगा और अंततः हिंसा की ओर ले जाएगा। इसलिए वे आध्यात्मिक मानवतावाद पर आधारित राजनीति की वकालत करते हैं। जहाँ सब धर्म अपनी भिन्नताओं के बावजूद एक साझा नैतिक धरातल पर मिल सकें। इसके विपरीत आंबेडकर आधुनिकता की उस परंपरा के आलोचक हैं, जो 'अमूर्त नागरिक' के नाम पर जाति–धर्म आधारित ऐतिहासिक दमन को नज़रअंदाज़ कर देती है। वे मानते हैं कि वास्तविक समानता तभी संभव है जब राज्य दमित समुदायों को विशेष अधिकार, प्रतिनिधित्व और संसाधन दे कर ऐतिहासिक अन्याय की भरपाई करे।

बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक प्रश्न पर गांधी की रूपरेखा नैतिकटा और प्रेम आधारित संवाद पर टिकी है। उनका विश्वास है कि यदि बहुसंख्यक समुदाय अपने धर्म–सिद्धांतों के भीतर से ही करुणा, समानता और न्याय को केंद्रीय मूल्य बनाए तो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा के लिए किसी विशेष कानूनी संरचना की आवश्यकता नहीं रहेगी। रामराज्य उनके लिए वही राज्य है जहाँ शासक वर्ग अपने हितों को धर्म–नीति के अधीन रखे। आंबेडकर इस धारणा को अतिनैतिकतावादी आशावाद मानते हैं। उनके अनुसार, इतिहास यह दिखाता है कि बहुसंख्यक समुदाय अक्सर अपने धर्म–ग्रंथों की ऐसी व्याख्या करता है जो उसके प्रभुत्व को वैध ठहराती है, इसलिए केवल नैतिक–धार्मिक अपील से सत्तासंबंध बदलने की उम्मीद रखना राजनीतिक भूल है।[14] इसीलिए वे राज्य का धर्म ही न्याय कहकर यह रेखांकित करते हैं कि राज्य की प्राथमिक निष्ठा किसी धर्म या समुदाय के प्रति नहीं, बल्कि न्याय के प्रति होनी चाहिए। न्याय जिसे वे स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की त्रयी से परिभाषित करते हैं।

आदित्य निगम की दलित–क्रिटीक यदि इन दोनों दृष्टियों को पढ़े तो वह दिखाती है कि गांधी का फ्रेम, भले ही सांप्रदायिकता के उन्मूलन के लिए कारगर हो, पर जाति–आधारित दमन की संरचना को पर्याप्त रूप से नहीं तोड़ पाता।

वहीं आंबेडकर की रूपरेखा आधुनिक लोकतंत्र के भीतर एक ऐसी बहुस्तरीय नागरिकता की कल्पना करता है जिसमें व्यक्ति के साथ–साथ समुदाय भी अधिकारो से लैस हो।

निष्कर्ष :

समाप्ति की ओर बढ़ते हुए कहा जा सकता है कि गांधी और आंबेडकर दोनों अपने–अपने तरीके से आधुनिक भारत के धर्मनिरपेक्ष अनुशासन को गहराई प्रदान करते हैं। गांधी हमें यह सिखाते हैं कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म का विरोध नहीं हो सकता; यदि राजनीति नैतिकता विहीन हो जाए तो वह किसी भी समय नफ़रत, हिंसा और बहुसंख्यकवाद की गिरफ्त में आ सकती है। उनकी सर्वधर्मसमभाव, अहिंसा, सत्य और प्रायश्चित्त पर आधारित राजनीति आज भी सांप्रदायिक द्वेष और धार्मिक कट्टरता के खिलाफ एक शक्तिशाली नैतिक संसाधन है। दूसरी ओर आंबेडकर हमें यह चेतावनी देते हैं कि नैतिक भाषा यदि संवैधानिक संरचनाओं और सत्ता–विन्यास में मूर्त न हो तो वह दमित समुदायों के लिए खोखली साबित हो सकती है। इसीलिए वे बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक प्रश्न को प्रतिनिधित्व, आरक्षण, संसाधनों के वितरण और सामाजिक–आर्थिक लोकतंत्र के प्रश्न से जोड़ते हैं।

आज के भारत में, जहाँ एक ओर सांप्रदायिक राष्ट्रवाद और सांस्कृतिक बहुसंख्यकवाद संविधानिक धर्मनिरपेक्षता को चुनौती दे रहे हैं और दूसरी ओर छद्म धर्मनिरपेक्षता के आरोपों के बीच राज्य की निष्पक्षता पर संदेह बढ़ रहा है, वहाँ केवल औपचारिक धर्म और राज्य विभाजन या धर्म से नफरत पर्याप्त नहीं है। ज़रूरत इस बात की है कि हम गांधी की नैतिक–धार्मिक करुणा और आंबेडकर की संरचनात्मक–न्यायपरक संवैधानिकता दोनों को मिलाकर एक ऐसी नैतिक व राजनीतिक धर्मनिरपेक्षता की रूपरेखा गढ़ें, जिसमें राज्य की प्राथमिक निष्ठा न्याय, समानता और मानवीय गरिमा के प्रति हो। पर साथ ही वह नागरिकों की धार्मिक–सांस्कृतिक संवेदनाओं का सम्मान भी करे। यह धर्मनिरपेक्षता बहुसंख्यक समुदायों को उनकी नैतिक जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं करती, बल्कि उनसे अपेक्षा करती है कि वे स्वैच्छिक रूप से अपने ऐतिहासिक विशेषाधिकारों का त्याग करें; साथ ही यह दमित समुदायों को केवल 'कृपा के पात्र' नहीं, बल्कि अधिकार संपन्न नागरिक और समुदाय के रूप में मान्यता देती है। इस तरह गांधी की धर्मनिरपेक्षता और आंबेडकरी न्याय-दृष्टि के बीच संवाद केवल अतीत की वैचारिक बहस नहीं, बल्कि आज और कल के भारत के लिए एक ज़रूरी राजनीतिक–नैतिक एजेंडा बन जाता है।

संदर्भ सूची

1. Nigam, Aditya. "Secularism, Modernity, Nation: Epistemology of the Dalit Critique." Economic and Political Weekly, Vol. 35, No. 48 (25 Nov – 1 Dec 2000), pp. 4256-4268. JSTOR URL: https://www.jstor.org/stable/4410008
2. Ambedkar, B. R. (2014). What Congress and Gandhi have done to the Untouchables. In V. Moon (Ed.), Dr Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches (Vol. 9). Government of Maharashtra.
3. Engineer, A. A. (Ed.). (1997). Gandhi and communal harmony. New Delhi: Gandhi Peace Foundation.
4. Parekh, Bhikhu. Gandhi: A Very Short Introduction. Oxford University Press, 1997
5. Gandhi, M. K. Mera Dharma, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, https://www.gandhiheritageportal.org/digital-library/books
6. Ibid
7. Chandra, Bipan. "Gandhiji, Secularism and Communalism." Social Scientist, Vol. 32, No. 1/2 (Jan–Feb 2004), pp. 3–29. JSTORE URL: https://www.jstor.org/stable/10.2307/3518325
8. Ibid

9. Nagaraj, D. R. (2010). The flaming feet and other essays: The Dalit movement in India. Ranikhet: Permanent Black.
10. Engineer, A. A. (Ed.). (1997). Gandhi and communal harmony. New Delhi: Gandhi Peace Foundation.
11. Ambedkar, B. R. (1991). Philosophy of Hinduism. In V. Moon (Ed.), Dr Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches (Vol. 3). Government of Maharashtra.
12. Ambedkar, B. R. (2014). What Congress and Gandhi have done to the Untouchables. In V. Moon (Ed.), Dr Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches (Vol. 9). Government of Maharashtra.
13. Ibid
14. Ibid